जनजातीय चेतना, कला, साहित्य, संस्कृति एवं समाचार का राष्ट्रीय मासिक

ककसाड़

वर्ष 11 अंक 120
मार्च, 2026
मूल्य : 25/- रुपए

ककसाड़
राष्ट्रीय मासिक पत्रिका

ISSN 2456-2211

दिल्ली से प्रकाशित

ककसाड़

(जनजातीय चेतना, कला, साहित्य, संस्कृति एवं समाचार का राष्ट्रीय मासिक)

मार्च 2026 **वर्ष-11 • अंक-120**

संस्थापना वर्ष 2015

प्रबंध एवं परामर्श संपादक
कुसुमलता सिंह

संपादक
डॉ. राजाराम त्रिपाठी

कानूनी सलाहकार
फैसल रिजवी, अपूर्वा त्रिपाठी

•

ग्राफिक डिजाईन
रोहित आनंद

• मुख्य कार्यालय एवं रचनाएँ भेजने का पता •

सी-54 रिट्रीट अपार्टमेंट, 20-आई.पी. एक्सटेंशन,
पटपड़गंज, दिल्ली-110092
फोनः 9968288050, 011-22728461

•

• संपादकीय कार्यालय •

151, डी.एन.के. हर्बल इस्टेट, कोण्डागाँव, छ.ग.-494226
फोनः 9425258105, 07786-242506

ई-मेल : kaksaadeditor@gmail.com
kaksaadoffice@gmail.com
वेबसाइट : www.kaksad.com

मूल्य : **रु. 25** (एक प्रति), वार्षिक : **रु. 350/-** संस्था और पुस्तकालयों के लिए वार्षिक : **रु. 500/-** वार्षिक (विदेश) : **$110** यू.एस. आजीवन व्यक्तिगत : **रु. 3000/-** संस्था : **रु. 5000/-**

संपादन-संचालन पूर्णतः अवैतनिक एवं अव्यवसायिक
दिल्ली से प्रकाशित होने वाली 'ककसाड़' पत्रिका में प्रकाशित लेखकों के विचार उनके अपने हैं जिनसे संपादकीय सहमति अनिवार्य नहीं।
• ककसाड़ से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे • **कुसुमलता सिंह** स्वामी, मुद्रक एवं प्रकाशक।

अनुक्रम

दिल्ली लाइब्रेरी बोर्ड (संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार) द्वारा पुरस्कृत

4. **संपादकीय**

व्यक्तित्व

6. इस तरह तीजन बाई... : **राजेश गनोदवाले**

लेख

11. हुआलापाई जनजाति : कोलोराडो के किनारे : **डॉ. एम.पी. सिंह**

15. लालित्य में लय होता लोक : **ममता खेड़े**

18. पारंपरिक आलोचना में विषमता के प्रश्न और हिंदी की प्रगतिवादी आलोचना : **भगवान साहू**

23. फागुन के दिन चार रे, होली खेल मना रे : **डॉ. प्रकाश पतंगीवार**

25. बुंदेली लोकगीतों में समग्र सजीव चित्रकला : **डॉ. प्रेमलता**

कहानी

29. मायावी लोक : **प्रवीण 'बनजारा'**

33. वो हमसफ़र था : **डॉ. रिया शर्मा**

कविताएँ/ग़ज़ल

39. **डुमन लाल ध्रुव** 39. **हरिओम हंसराज** 40. **अरुण चन्द्र रॉय** 41. **अनामिका सिंह**

लोक पर्व

9. बस्तर के आदिवासी समुदाय का माटी तिहार : **खेम वैष्णव**

पुस्तक विमर्श

42. 'गोंड आदिवासी लोक और चित्रकला' का विश्व पुस्तक मेले में लोकार्पण

पुस्तक समीक्षा

49. भारत में ई-गवर्नेंस : **नीरज कुमार मिश्र**

50. कविता कुछ कहती है : **कुसुमलता सिंह**

22. **क्या है ककसाड़?**

32. **यादें**

47. **साहित्यिक समाचार**

आवरण कलाकृति - कुन्ती मरावी (गोंड कलाकार)
मो.: 84638-84005

संपादकीय

वसंत फिर आ गया है।यह भी गजब दौर है, कैलेंडर कहता है कि ऋतु बदल चुकी है, पर मौसम स्वयं निर्णय नहीं कर पाता कि उसे शीत रहना है या ग्रीष्म बन जाना है। फरवरी में पसीना और मार्च में ठंडी हवा अब नई सामान्यता बन चुकी है। वैज्ञानिक भविष्यवाणियाँ रोज संशोधित हो रही हैं, जबकि बस्तर का कोई बूढ़ा किसान आज भी चींटियों की कतार और हवा की दिशा देखकर मौसम का अनुमान लगा लेता है।

ऋतु की यह अनिश्चितता केवल खेती या पर्यावरण का संकट नहीं है, यह वर्तमान मानव सभ्यता के भीतर चल रहे असंतुलन का संकेत है। जब प्रकृति का संतुलन डगमगाता है, तब सबसे पहले वे समाज प्रभावित होते हैं जिन्होंने प्रकृति को केवल संसाधन नहीं, अपना सहचर माना। यही कारण है कि आज जनजातीय जीवन, उसकी बोली भाषा, उसकी परंपराएं उसकी कला और उसकी सांस्कृतिक चेतना एक अदृश्य संकट के घेरे में खड़ी दिखाई देती है।

कभी जनजातीय अंचलों में वसंत का अर्थ केवल फूलों का खिलना नहीं होता था। यह देवताओं के जागने का समय होता था। गाँवों में छात्रा, मंडई लगती थी, मेले भरते थे, और पूरा समाज सामूहिक उल्लास में डूब जाता था। वहाँ मंच नहीं होते थे, दर्शक और कलाकार अलग नहीं होते थे। हर व्यक्ति सहभागी होता था। माँदर की थाप पर नृत्य केवल मनोरंजन नहीं, प्रकृति के साथ संवाद था। आज वही मंडई धीरे-धीरे बाजार के अनुबंध पर चलने लगी है। जहाँ पहले देवगुड़ी की परिक्रमा होती थी, वहाँ अब प्रायोजकों के फ्लेक्स लहराते हैं। ढोल और तुरही की जगह फिल्मी धुनों पर आर्केस्ट्रा का शोर है, और सामूहिक नृत्य स्टेज डांस में बदलकर तालियों की प्रतियोगिता बन गया है। श्रद्धा धीरे-धीरे स्पीकर की आवाज तले दबती जा रही है।

विडंबना देखिए कि आधुनिकता के इस उत्सव में सबसे अधिक असहज स्वयं जनजातीय युवा ही दिखाई देता है। वह कॉलेज में अपनी बोली बोलने से बचता है, पारंपरिक वस्त्र पहनने में संकोच करता है, और कभी-कभी तो अपने ही लोकगीतों को "पुराना" कहकर मुस्कुरा देता है। यह परिवर्तन स्वाभाविक विकास नहीं, सांस्कृतिक असुरक्षा का संकेत है। मानो उसे समझा दिया गया हो कि आधुनिक बनने की पहली शर्त अपनी जड़ों को भूल जाना है।

संस्कृत का एक वाक्य अनायास स्मरण होता है, "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।" ज्ञान से बड़ा कोई पवित्र तत्व नहीं, पर प्रश्न यह है कि क्या अपनी बोली-भाषा और परंपरा को भूल जाना ज्ञान है या विस्मृति?

आज आंकड़े भी चिंता को पुष्ट करते हैं। भारत की सैकड़ों भाषाएँ लुप्तप्राय स्थिति में पहुँच चुकी हैं और पिछले कुछ दशकों में अनेक जनजातीय भाषाएँ हमेशा के लिए मौन हो गईं। भाषा का मरना केवल शब्दों का अंत नहीं होता, वह स्मृति, लोकज्ञान और जीवनदर्शन का अंत होता है। किसी भाषा के साथ ही जंगल की औषधियों का ज्ञान, खेती की पारंपरिक विधियाँ, ऋतु पहचानने की तकनीकें और पीढ़ियों का अनुभव भी चला जाता है। आधुनिक विकास की दौड़ में हम यह भूल बैठे हैं कि जब आखिरी व्यक्ति अपनी मातृभाषा में आखिरी गीत गाता है, तो उसके साथ ही एक सभ्यता चुपचाप अंतिम साँस ले रही होती है।

पाश्चात्य दार्शनिक क्लॉड लेवी-स्ट्रॉस ने लिखा था कि "किसी समाज को समझना हो तो उसके मिथक और भाषा को समझिए।" आज हम मिथकों को अंधविश्वास कहकर त्याग रहे हैं और आंचलिक बोली भाषाओं को पिछड़ेपन का प्रतीक मान रहे हैं, फिर आश्चर्य करते हैं कि समाज में खालीपन क्यों बढ़ रहा है।

जनजातीय समाज की सबसे बड़ी शक्ति उसका संतुलन था। उसने जंगल को काटकर उस पर विजय पाने के बजाय उसके साथ सहजीवन को सम्मान माना। आधुनिक समाज ने विकास की ऊँची इमारतें तो बना लीं, पर मानसिक